संन्यास आश्रम-व्युत्पत्ति एवं अर्थ, संन्यासी की आचारसंहिता

डा० धनञ्जय वासुदेव द्विवेदी

सहायक प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,

डा० श्यामा प्रसाद मुखर्जी विश्वविद्यालय, राँची

संन्यास शब्द का अर्थ है-सम्यक् रूप से त्याग- **सम्यक् न्यासः प्रतिग्रहाणां संन्यासः**। संन्यास आश्रम मानवजीवन का वह चौथा पड़ाव है, जहाँ मावन सांसारिकता से पूर्ण विरक्त हो जाता है। इस प्रकार यह आश्रम 75 वर्ष की अवस्था से प्रारम्भ होता है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि भौतिक पदार्थों का त्यागमात्र ही संन्यास नहीं है अपितु राग-द्वेष, मोह-ममता प्रभृति आन्तर भावों का त्याग संन्यास है। वानप्रस्थ की सहज परिणति ही संन्यासाश्रम है। भगवान् श्रीकृष्ण के मतानुसार काम्य कर्मों का परित्याग और कर्तव्य कर्मों के फल का त्याग ही संन्यास है-

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।

सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः।।

कर्मफल की इच्छा न करने वाला, कर्तव्य कर्म करने वाला पुरुष ही संन्यासी और योगी होता है। श्रीकृष्ण की दृष्टि में कर्मफल के प्रति अनासक्त और करणीय कर्तव्यों के प्रति निष्ठा को ही संन्यासी का आवश्यक गुण माना है।

भारतवर्ष में वैदिककाल से ही व्यक्ति के संन्यस्त होने की परम्परा रही है और उसे संन्यासी, मुनि, यति, भिक्षु आदि शब्दों से सम्बोधित किया जाता रहा है। शास्त्रकारों का मत है कि लोकैषणा, पुत्रैषणा तथा वित्तैषणा सभी को त्याग कर संन्यासी को ग्राम से बाहर गृहहीन रूप में रहना चाहिए।

स्मृतियों और पुराणों के मतों का परिशीलन करने से ज्ञात होता है कि मानव को वन में रहते हुए आयु के तृतीय भाग-अर्थात् वानप्रस्थाश्रम को बिताकर, आयु के चतुर्थ भाग में सर्वपदार्थासक्ति का परित्याग करके, संन्यासाश्रम में प्रवेश करना चाहिए।

E-Learning material prepared by Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi

आचार्य मनु ने इस आश्रम के सम्बन्ध में यह विधान किया है कि व्यक्ति को ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थाश्रम के कर्तव्यों को पूरा करके क्रमशः ही इस आश्रम में प्रवेश करना चाहिए। चूँकि संन्यासाश्रम का एकमात्र लक्ष्य मोक्षपुरुषार्थ की सिद्धि है। अतः इस पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए यह आवश्यक है कि देव ऋण, ऋषि-ऋण और पितृ ऋण- इन तीनों ऋणों से मुक्त होकर ही, मोक्ष की दृष्टि से संन्यासाश्रम में प्रवेश लिया जाए।अतः त्रिविध वेदों को पढ़कर, पुत्रोत्पत्ति कर और यज्ञों का अनुष्ठान कर- इन तीनों ऋणों से मुक्त हो कर ही संन्यासाश्रम का पालन करना चाहिए। अन्यथा मोक्षप्राप्ति नहीं हो सकती।

आचार्य मनु ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ-इन तीन आश्रमों से सम्बद्ध कर्तव्यों को पूरा किए विना संन्यास लेना अनुचित मानते हैं। 'संन्यास' का अभिप्राय कर्तव्यपालन है, कर्तव्यपलयान नहीं। व्यक्ति को प्रत्येक आयुभाग से सम्बन्धित कार्यों को अपने सामर्थ्य के अनुसार करना चाहिए। संन्यास की आयु तो वह है, जिसमें शरीर शिथिल हो जाए और मन पूर्ण विरक्त हो जाए। सांसारिक सुख भोगने की आयु में संन्यास ग्रहण करना अनुचित है।

हमारा इतिहास साक्षी है कि भगवान् शुक, भगवान् शङ्कराचार्य, भगवान् महावीर आदि ब्रह्मचर्याश्रम से ही संन्यासाश्रम में प्रविष्ट हो गये थे। किन्तु इन्हें दिव्य पुरुष मानते हुए इनका यह व्यवहार अनुचित नहीं है, किन्तु साधारणतया संन्यास अन्य तीन आश्रमों के कर्तव्यों का पालन करने के बाद ही ग्रहण करना चाहिए।

व्यक्ति को संन्यास किस विधि से लेना चाहिए, इस विषय पर हमारे सांस्कृतिक ग्रन्थों के आधार पर प्रकाश डाला गया है। प्राजापत्य यज्ञ की विधि के अनुसार समस्त सम्पत्ति को दक्षिणा के रूप में देकर अग्नि को अपने में ही आरोपित करके संन्यासाश्रम में प्रवेश करे।शास्त्रों में सर्वस्व दान के पश्चात् यज्ञीय अग्नि को आत्मस्थ करने का निर्देश दिया गया है। तात्पर्य यह है कि वानप्रस्थी अपने साथ अग्नि रख सकता है, किन्तु संन्यासी नहीं क्योंकि संन्यासियों में सभी अग्नियों की स्थिति मानी गई है।

संन्यास आश्रम में व्यक्ति पूर्णरूपेण निर्लिप्त-निस्पृह होकर मोक्ष प्राप्ति के कार्यक्रम में लगता था और अपनी आत्मा को ब्रह्म की ओर लगाता था। संन्यास आश्रम का मूल उद्देश्य मोक्षप्राप्ति थी। इसके निमित्त साधना तथा तपस्या की अपेक्षा थी। संन्यासी का जीवन समस्त राग-द्वेष और मोह-माया से विलग, पूर्णतया एकाकी था। उसे अपनफ स्पृहा, इन्द्रिय, आचरण आदि पर नियन्त्रण रखना अनिवार्य था। संग्रह करने पर उस पर प्रतिबन्ध था।वह सबको अभय प्रदान करता था तथा वेद के अलावा अन्य कर्मों के प्रति विरक्त अथवा संन्यस्त रहता था। उसके लिए यह नियम था कि वह समभाव रखे, जरायुज, अण्डज आदि सभी जीवों से कभी द्रोह न करे।काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि समस्त दुर्गुणों को त्याग दे। महाभारत में उल्लिखित है कि वह अग्नि, धन, पत्नी और सन्तान के प्रति हमेशा अनासक्त रहे। वस्त्र, आसन, शैया आदि सुख के साधनों का त्याग करे तथा इधर-उधर घूमता रहे।

आचार्य मनु ने उसके लिए निरपेक्ष और एकाकी जीवन व्यतीत करने के लिए निर्देश दिया है। शास्त्रकारों द्वारा यह स्वीकार किया गया है कि सांसारिक वस्तुओं से अनासक्त होने पर ही उसे ज्ञान की प्राप्ति हो सकती थी। संन्यासी को अहिंसानुयायी, निर्द्वन्द्व, क्रोधहीन, सत्यनिष्ठ और क्षमाशील होता था। इन्द्रिय-निग्रह के साथ जितेन्द्रिय होना भी उसके लिए आवश्यक था। जितेन्द्रिय होकर ही वह नियम और सच्चरित्रता का पालन कर सकता था। मनु का कथन है कि विषयों की ओर आकृष्ट होती इन्द्रियों को अल्पभोजन एवं एकान्तवास से रोके। इन्द्रियों को वश में करने पर ही व्यक्ति विशुद्ध और सात्त्विक आचरण कर सकने में समर्थ होता था।

संन्यासी के लिए यह निर्दिष्ट किया गया था कि वह ब्रह्म के ध्यान में लीन रहे, योगासनों पर बैठा हुआ अपेक्षा से रहित, मांस की अभिलाषा से मुक्त, मोक्षसुख को चाहने वाला इस संसार में विचरण करे। उसे उतना ही भोजन करने का निर्देश दिया गया था, जिससे उसकी प्राणशक्ति बनी रहने में समर्थ होती थी।उसे दिन में एक बार ही भिक्षा ग्रहण करने का निर्देश दिया गया था, क्योंकि ऐसा माना जाता था कि भिक्षा में आसक्त रहने वाला व्यक्ति विषयों में भी आसक्त हो सकता था।

E-Learning material prepared by Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi

भारतीय धर्मग्रन्थों में संन्यासियों के चार प्रकारों का वर्णन किया गया है-कुटीचक, बहूदक, हंस तथा परमहंस। पुत्रों के घर के पास बनी हुई कुटिया में निवास करने वाला कुटीचक संन्यासी है। गेरुए वस्त्र, त्रिदण्ड और कमण्डलु धारण करके सात श्रेष्ठ ब्राह्मणों के घर से भिक्षा माँगने वाला बहूदक संन्यासी होता है। हंस संन्यासी वन में निवास करता है और केवल भिक्षाटन के लिए ग्राम नगर जाता है। परमहंस संन्यासी कौपीन मात्र धारण करता है और सभी स्थितियों को समान मानता है। कुछ अन्य शास्त्रों में संन्यासियों के तीन प्रकार बताए गए हैं-ज्ञान संन्यासी, वेद संन्यासी एवं कर्म संन्यासी। जो निर्द्वन्द्व, निर्भय एवं अपनी आत्मा में स्थित हो उसे ज्ञान संन्यासी कहते हैं। मोक्षार्थी, जितेन्द्रिय और नित्य वेदाभ्यास करने वाला वेद संन्यासी तथा अग्नियों को आत्मसात् कर ब्रह्मार्पण तत्पर महायज्ञ परायण द्विज को कर्म संन्यासी जानना चाहिए। इनमें ज्ञान संन्यासी सर्वश्रेष्ठ होता है।

संन्यासी के लिए दण्डी या त्रिदण्डी शब्द का प्रयोग भी शास्त्रों में किया गया है। दण्ड के दो अर्थ होते हैं-छड़ी एवं नियन्त्रण। संन्यासी त्रिदण्डी होना चाहिए अर्थात् उसे अपनी वाणी, शरीर तथा मन पर संयम रखना चाहिए।

हमारे धर्मग्रन्थों में संन्यासियों के अनेक कर्तव्य बताए गए हैं, उसके प्रमुख कर्तव्य इस प्रकार हैं-

(क) संन्यासी द्विज सभी प्राणियों को अभय प्रदान करे। सभी प्राणियों को अभय प्रदान करने वाला न केवल तेजोमय लोक प्राप्त करता है, अपितु मोक्षप्राप्ति के विषय में भी निर्भीक हो जाता है। संन्यासी न तो भयभीत करता है और किसी से भयभीत होता है।

(ख) व्यक्ति को निःस्पृह होकर ही संन्यास ग्रहण करना चाहिए। अतः संन्यास लेने के लिए उसे घर से निकलकर, पवित्र कमण्डलु आदि से युक्त होकर, उपस्थित कामनापूर्ति के साधनों के प्रति निरपेक्ष भाव धारण करना चाहिए।

(ग)मोक्षार्थी संन्यासी को चाहिए कि वह सिद्धि के मार्ग में एकाकी ही चल पड़े और आत्मा में ही रमण करे।

E-Learning material prepared by Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi

(घ)संन्यासी व्यक्ति लौकिक अग्नि से रहित, ग्रह से रहित, रोगादि की चिन्ता न करने वाला, ब्रह्म का ध्यान करने वाला, सबका हितैषी, शान्त, नारायण का ध्यान करने वाला, संचयवृत्ति से दूर रहने वाला, ज्ञानवान् हो तथा अन्न की इच्छा से ही गाँव का आश्रय ले, वल्कल वस्त्र धारण करे एवं दण्ड, कमण्डलु आदि चिह्नों को धारण करे।

(ङ) संन्यासी का महत्त्वपूर्ण गुण है समता। उसे चाहिए कि वह अच्छा-बुरा, हानि-लाभ, सुख-दुःख आदि के प्रति समभाव रखे। महाभारत में लिखा है कि संन्यासी की दृष्टि में पाषाण और काञ्चन, शत्रु, मित्र, उदासीन आदि सब समान होते हैं। इतना ही नहीं, जन्म-मरण की इच्छा स्वयं न करे, इनको काल के हाथों ही में सौंप दे। भगवान् श्रीकृष्ण ने भी गीता में समत्वभाव को ही लक्ष्य करके कहा है कि सुख-दुःख से विचलित न होने वाला ही मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी है।

(च) आचार्य मनु के अनुसार संन्यासी को सूर्य के प्रकाश में ही चलना चाहिए। उसे रास्ता देखकर चलना चाहिए, पवित्र छाने हुए जल से ही सब कार्य करने चाहिए। सत्य, अहिंसा, निन्दाराहित्य,रोषराहित्य, माधुर्य, क्रूरताराहित्य आदि गुणों से युक्त पवित्र वाणी बोलनी चाहिए।

(छ) संन्यासी को चाहिए कि वह किसी की भी बात को सहन करे। वह किसी का अपमान न करे, किसी के साथ वैरभाव न रखे, क्रुद्ध व्यक्ति पर भी क्रोध न करे, निन्दा करने वाले से भी मधुर वचन बोले, व्यर्थ वचन न कहे, ब्रह्म के ध्यान में लीन होकर, अतिरिक्त सामग्री की अपेक्षा न करे, मांसादि की अभिलाषा न करे तथा मोक्षसुख की ही इच्छा करे।

(ज) संन्यासी को जीवन-यात्रा हेतु भिक्षा ग्रहण करनी पड़ती थी क्योंकि इस आश्रम में उसके पास अग्नि नहीं रहती। संन्यासी को भिक्षा किस प्रकार ग्रहण करनी चाहिए, इस सम्बन्ध में धर्मशास्त्रियों ने कुछ नियम बताए हैं जो इस प्रकार हैं- संन्यासी को भविष्यवाणी, हस्तरेखा अथवा कथा के माध्यम से भिक्षावृत्ति नहीं करनी चाहिए, उसे ऐसे स्थान पर भिक्षा माँगने नहीं

E-Learning material prepared by Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi

जाना चाहिए, जहाँ और भी बहुत से वानप्रस्थी और भिक्षुक भिक्षा के लिए जाते हो, उसे दिन में एक बार ही भिक्षाचरण करना चाहिए, भिक्षा में अधिक मात्रा की इच्छा नहीं करनी चाहिए, भिक्षा न मिलने पर दुःखी नहीं होना चाहिए, मिलने पर सुखी नहीं होना चाहिए, भिक्षा हेतु सात घरों में प्रयत्न करना चाहिए, किसी के भी घर में भोजन नहीं करना चाहिए, जीवन-निर्वाह मात्र के लिए ही भिक्षा माँगनी चाहिए, विशिष्ट आदर-सत्कार से मिलने वाली भिक्षा से बचना चाहिए।

(झ) संन्यासी को चाहिए कि वह अल्पभोजन और एकान्तवास से इन्द्रिय-निग्रह करे। अज्ञानवश की गई जन्तुओं की हत्या के प्रायश्चित के लिए स्नान कर प्राणायाम करे।

(ञ) संन्यासी इन्द्रिय निरोधपूर्वक सांसारिक दुःखों का स्मरण करते हुए वैराग्योन्मुख हो। उसे ब्रह्मप्राप्ति रूप अक्षय सुख के कारणस्वरूप धर्म का चिन्तन करना चाहिए।

(ट) मोक्ष तथा ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए संन्यासी अहिंसा, इन्द्रियसंयम, विषयों के प्रति अनासक्ति, वैदिक कर्म तथा उग्र तपश्चरण करे और शरीर से मुक्त होने का प्रयत्न करे। वह विषयों से निःस्पृह हो जाए, विषयासक्तियों और हानि-लाभ की चिन्ता से दूर होके, वैदिक मन्त्रों से आत्मध्यान करे।

(ठ) संन्यासी को चाहिए कि वह ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए प्राणायाम, धारणा, प्रत्याहार और ध्यान का पालन करे ताकि रागादि दोष, पाप, विषय-संसर्ग, लोभादि गुण नष्ट हो सकें।

(ड) संन्यासी को चाहिए कि वह शिल्पकला को जीवन-निर्वाह का साधन न बनाए। वह अपने अन्दर गुणों का आधान करे, इन्द्रियों को जीते, सबसे अलग रहे, गृहस्थ के घर न सोए, थोड़ा-थोड़ा चले, अकेला ही अनेक स्थानों का भ्रमण करे, मुनिवृत्ति धारण करे, किसी वस्तु की कामना न करे, अपने रहने के लिए घर न बनाए, भोगों से दूर रहे, विकारों से अपनी रक्षा करे, अपने धर्म का प्रदर्शन न करे, निर्जन स्थान में भ्रमण करे, रात्रि-शयन हेतु एकान्त मकान, वन, वृक्षमूल, नदी का किनारा अथवा पर्वत की गुफा का ही आश्रय ले।

E-Learning material prepared by Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi

(ढ) संन्यसी का कर्तव्य है कि सांसारिकों की भाँति व्यर्थ के वाद-विवाद में न पड़े। किसी का पक्ष न ले, शिष्यों का समूह एकत्र न करे, ग्रन्थों का भी अभ्यास न करे, व्याख्यान न दे तथा बड़े कार्य प्रारम्भ न करे। आचार्य मनु ने संन्यास में वेद को छोड़कर सर्वस्व त्याग की बात पर जोर दिया है।

(ण) संन्यासी समाज के लिए अत्यन्त उपयोगी होता था। वह अपने-पराये की भावना से बहुत ऊपर उठकर आत्मवत् सर्वभूतेषु का व्यवहार करता था, समूचा विश्व उसका अपना कुटुम्ब बन जाता था। दीनों, अनाथों की रक्षा करना और प्राणिमात्र के कल्याण का मार्ग प्रशस्त करना संन्यासी का सर्वप्रधान ध्येय होता था। लोककल्याण में उसे अपने शरीर के सुख-दुःख की चिन्ता नहीं रहती थी।

वस्तुतः संन्यासाश्रम मानव-जीवन का वह पहलू है, जिसमें नियमों का पालन मानव को ब्रह्मत्व की प्राप्ति कराता है। महर्षि वेदव्यास भी स्वच्छ रहने वाले, निष्काम, जितेन्द्रिय संन्यासी को पूज्य मानते हैं और उसे परमसिद्धि प्राप्त करने का अधिकारी समझते हैं। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वानप्रस्थाश्रम में सांसारिकता के त्याग की जो नींव डाली जाती है, संन्यासाश्रम का भवन उसी पर प्रतिष्ठित हो जाता है। वानप्रस्थाश्रम में अग्नि का साथ होना, स्त्री के साथ वन में रहना आदि जो स्वतन्त्रता थी, वह संन्यासाश्रम में नहीं होती। संन्यासाश्रम के समुचित पालन से ही हमारी आध्यात्मिक चेतना की रक्षा हो सकती है और निष्कामभाव से समाज तथा राष्ट्र की सेवा की जा सकती है।

E-Learning material prepared by Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi